अध्यापक शिक्षा – सवालों के दायरे में

उषा शर्मा*

सम्यक् शिक्षा वही है जो विद्यार्थी को जीवन की कठोर यथार्थपरक और जटिल समस्याओं का सामना करना सिखाए ताकि वे जीवन के स्पंदन को महसूस कर सकें और तमाम तरह के सवालों को समझने योग्य बनाए, ताकि इसे उचित ठहराने के बजाय वे इसे समझें और इससे बाहर निकलने की कोशिश करें। जिससे एक मनुष्य होने के नाते केवल परंपरागत ढंग से विचार करते न रह जाएँ बल्कि कुछ नया करें। इस चर्चा का निहितार्थ यह है कि सम्यक शिक्षा की ज़िम्मेदारी शिक्षक, शिक्षार्थी, विद्यालय, समाज, समुदाय की साझी भागीदारी है, केवल एकाध की नहीं। वास्तविक शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि शिक्षकों की शिक्षा 'अध्यापक-शिक्षा' के चरित्र को भी समझा और बदला जाये। अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त वैचारिक जड़ता को भी दूर करना होगा। स्वयं शिक्षकों को भी सम्यक् जीवन के लिए उपयोगी सम्यक् शिक्षा की स्पष्ट अवधारणा बनानी होगी। अध्यापक-शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिससे शिक्षक मननशील बन सकें और अपने विद्यार्थियों को भी इस ओर अग्रसर कर सकें। अध्यापक-शिक्षा के विषय में ऐसे ही महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विमर्श को आगे बढ़ाता है प्रस्तुत लेख।

जीवन किसी नदी-सा होता है और कभी स्थिर नहीं होता, सदैव गतिशील रहता है, सदैव जीवंत और समृद्ध होता है। जब हम समझते हैं कि हमने नदी के एक हिस्से को समझ लिया है और उस हिस्से को कसकर पकड़कर रखते हैं तो वह सड़ा हुआ पानी होता है क्योंकि नदी तो प्रवाह में रहती है। नदी की सारी गतिविधियों को उनसे सीधे संपर्क में होना, यही जीवन है और इसके लिए हम सभी को तैयार होना है। हमारा विद्यार्थी जगत भी इसका अपवाद नहीं है। यह शिक्षा और

**एसोसिएट प्रोफेसर*, प्रारंभिक शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

शिक्षक का दायित्व है कि वह विद्यार्थियों का स्वतंत्रतापूर्वक विकास करे ताकि वे अपने आस-पास की चीज़ों को बदल सकें, संवेदनशून्य और जड़बुद्धि होकर अँधेरे में न खो जाएँ। प्रायः शिक्षकों की चिंता का विषय होता है–पाठ्यक्रम पूरा कैसे किया जाये? भाषा, गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान कैसे पढ़ाया जाये? परीक्षाओं में अच्छे अंक किस प्रकार दिलवाए जा सकें और उत्तीर्ण विद्यार्थियों का प्रतिशत किस प्रकार बढ़ाया जाये? लेकिन यह सोच संवेदनशून्य, यांत्रिक मतिमंद और असृजनशील है जो शिक्षा को केवल परीक्षाएँ पास कर लेने से जोड़कर देखती है या यूँ कहें कि वह शिक्षा और परीक्षा को एक-दूसरे के पर्याय के रूप में देखती है।

वस्तुतः सम्यक् शिक्षा वही है जो विद्यार्थी को जीवन की कठोर यथार्थपरक और जटिल समस्याओं का सामना करना सिखाए ताकि वे जीवन के स्पंदन को महसूस कर सकें और तमाम तरह के सवालों को समझने योग्य बनाए ताकि इसे उचित ठहराने के बजाय वे इसे समझें और इससे बाहर निकलने की कोशिश करें। जिससे एक मनुष्य होने के नाते केवल परंपरागत ढंग से विचार करते न रह जायें बल्कि कुछ नया करें। इस चर्चा का निहितार्थ यह है कि सम्यक् शिक्षा की ज़िम्मेदारी शिक्षक, शिक्षार्थी, विद्यालय, समाज, समुदाय की साझी भागीदारी है, केवल एकाध की नहीं। वास्तविक शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी है कि शिक्षकों की शिक्षा 'अध्यापक-शिक्षा' के चरित्र को भी समझना, बदलना पड़ेगा। अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त वैचारिक जड़ता को भी दूर करना होगा। स्वयं शिक्षकों को भी सम्यक् जीवन के लिए उपयोगी सम्यक् शिक्षा की स्पष्ट अवधारणा बनानी होगी। आचार्य रजनीश का मानना है कि मेरी दृष्टि में कोई भी व्यक्ति ठीक अर्थों में शिक्षक तभी हो सकता है जब उसमें विद्रोह की एक अत्यंत ज्वलंत अग्नि हो। जिस शिक्षक के भीतर विद्रोह की अग्नि नहीं है, वह किसी-न-किसी नीति, स्वार्थ का, चाहे समाज, चाहे धर्म, चाहे राजनीति उसका एजेंट होगा। शिक्षक के भीतर एक ज्वलंत अग्नि होनी चाहिए, विद्रोह की, चिंतन की, सोचने की। यह भी विचारणीय तथ्य है कि **जो व्यक्ति शास्त्र से बँध जाते हैं, वे चिंतन से कट जाते हैं। जिनके लिए शास्त्र महत्वपूर्ण है उनके लिए समाधान महत्वपूर्ण है और जिनके लिए समस्याएँ महत्वपूर्ण हैं वे चिंतन की राह पर निकल जाते हैं।** अध्यापक-शिक्षा के संदर्भ में भी हमें समाधान से ज़्यादा समस्याओं पर ध्यान देना होगा। फिर तथाकथित शास्त्रबद्ध चिंतन से हटकर स्वतंत्र चिंतन करना होगा। सवाल खड़े करना ज़रूरी है। सवाल होंगे तो जवाब ढूँढने की चिंतनपरक प्रक्रिया शुरू होगी।

जब कभी शिक्षक का ज़िक्र आता है तो सामान्यतः हमारे सामने एक ऐसे व्यक्ति की तस्वीर उभरती है जो बच्चों से घिरा हुआ है, उनकी समस्याओं में उलझा हुआ है, उन्हें अधिक से अधिक सिखाने की कोशिशें करता हुआ अधपके बालों और आँखों पर मोटा चश्मा लगाए बेचैन है, तनाव में है। शिक्षक स्वयं अपने

शिक्षकत्व को समझ नहीं पा रहे हैं, अपनी गरिमा को स्वयं महसूस नहीं कर पा रहे हैं। वे स्वयं को समाज के एक ऐसे वंचित, दमित, शोषित वर्ग का हिस्सा समझते हैं, जिनका सम्मान, गरिमा, केवल राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कारों से जुड़ा है। राष्ट्रपति अथवा किसी अन्य प्रकार का पुरस्कार मिलने पर वे ही स्वयं की नज़रों में उठ पाते हैं अन्यथा एक असहाय, निरीह प्राणी से अधिक उन्हें अपना स्थान नज़र नहीं आता। इस तरह की मानसिकता के लिए स्वयं शिक्षकों के साथ-साथ समाज, शैक्षिक और प्रशासनिक व्यवस्थाएँ तथा राजनैतिक कारण भी ज़िम्मेदार हैं। विद्यार्थियों की तरह शिक्षकों को भी सफलता-असफलता के विभेद से जूझना पड़ता है। दरअसल **हमारा केंद्र बिंदु सफल की बजाय सुफल पर होना चाहिए। कहने का तात्पर्य है कि अच्छे कार्य पर बल होना चाहिए न कि प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता पर, जो अशांति और ईर्ष्या को उत्पन्न करती है।** प्रस्तुत संदर्भ में यह सवाल किसी को भी अटपटा-सा लग सकता है लेकिन गहराई से सोचें तो अहसास होता है कि अध्यापक-शिक्षा से जुड़ी व्यवस्थाएँ शिक्षक-प्रशिक्षुओं पर लगातार दबाव बनाए हुए हैं और बेहतर प्रक्रिया के बजाय बेहतर परिणामों पर बल दिया जाता है। अध्यापक-शिक्षा भी अंकों, श्रेणियों, ग्रेडों, प्रतिशतों, आदि के फेर में पड़ी हुई है। जबकि किसी भी अध्यापक-शिक्षा का मुख्य उद्देश्य शिक्षकत्व को भरपूर रूप से विकसित होने के अवसर प्रदान करना है। शिक्षक प्रशिक्षुओं के भीतर ऐसी क्षमताओं को पोषित-पल्लवित करना है जो उन्हें एक सच्चा और प्रभावी शिक्षक बनने में सहायता करेंगी। उसके भीतर ऐसे शांतिपूर्ण चिंतन को सक्रिय बनाना है जिससे विद्यार्थियों को बेहतर शिक्षा मिल सके। एक सुव्यवस्थित, सुविचारित, अध्यापक-शिक्षा अनेक पीढ़ियों पर अपना सकारात्मक प्रभाव अंकित करती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस अध्यापक-शिक्षा की प्रक्रिया से जो शिक्षक-प्रशिक्षु गुज़रकर वास्तविक शिक्षायी दुनिया में प्रवेश करते हैं वे अनेक पीढ़ियों को अपने नज़रिए के अनुसार शिक्षित करने का प्रयास करते हैं। इसका एक निहितार्थ यह भी है कि शिक्षकों की स्वयं की व्यावसायिक तैयारी का भी समाज के शिक्षित होने को प्रभावित करता है। इसका दूसरा निहितार्थ यह है कि अलग-अलग समाजों की बाहरी और भीतरी संरचनाएँ अपनी ही तरह की कुछ खास विशेषताओं से परिपूर्ण अध्यापक-शिक्षा की अपेक्षा करती हैं। हम न तो शिक्षा को समाज से काटकर देख सकते हैं और न ही अध्यापक-शिक्षा को। बदलते सामाजिक परिदृश्यों के अनुरूप अध्यापक-शिक्षा में भी अपेक्षित बदलाव ज़रूरी है।

आइए, अब इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए यह जानने-समझने का प्रयास करते हैं कि अध्यापक-शिक्षा का कलेवर क्या हो। सामान्यत: अध्यापक-शिक्षा की पूरी पाठ्यचर्या ज्ञान के कुछ विशिष्ट खंडों में विभाजित होकर शिक्षक-प्रशिक्षुओं के सामने प्रस्तुत की जाती है। चाहे वह शिक्षा का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य हो या सामाजिक या फिर मनोवैज्ञानिक—सभी में विदेशी शोध एवं विदेशी विवेचनाएँ हावी रहती हैं। हाँ, दार्शनिक परिप्रेक्ष्य

में भारतीय चिंतन एवं चिंतकों को कुछ जगह मिल जाती है। लेकिन मनोविज्ञान में हमें किसी भी ऐसे सिद्धांत या विवेचना की महक नहीं मिलती जो भारतीय मिट्टी से सुवासित हो। अगर हम यह स्वीकार करते हैं कि शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में सामाजिक, राष्ट्रीय और कुछ हद तक अंतर्राष्ट्रीय चिंताएँ कार्य करती हैं तो भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही इन चिंताओं को समझना होगा। **'सा विद्या या विमुक्तये'** को यदि हम केवल अध्यात्म से जोड़कर देखते रहे तो इस वाक्य के गूढ़ार्थ में छिपे अनेक सरोकारों से परिचित नहीं हो सकेंगे। भारतीय बालक-बालिकाओं के मानस से परिचित होना इसलिए ज़रूरी है ताकि शिक्षक अपनी शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को सही दिशा दे सकें। लेकिन हम भारतीयेतर चश्मों से भारतीय बालक-बालिकाओं को देखने का प्रयास करते हैं। यह तो स्वीकृत तथ्य हो सकता है कि प्रत्येक समाज के भीतर पलने वाले बच्चों पर अपने समाज की विशिष्टताओं की छाप होती है। उनका मनोविज्ञान उनके अपने समाज से उपजता है। उनकी रुचियाँ, अभिवृत्तियाँ, सृजनात्मकता, तनाव, दबाव, दुश्चिंताएँ उनके अपने समाज के भीतर से ही पनपती हैं। अतः एक भारतीय बच्चे के मनोविज्ञान, मन और व्यवहार को समझने के लिए भारतीय मनोविज्ञान को अध्यापक-शिक्षा में स्थान देना होगा। जिससे शिक्षक-प्रशिक्षुओं को अपने विद्यार्थियों के मनोविज्ञान को समझने में सुविधा हो सके।

किसी दूर-दराज़ के ग्रामीण क्षेत्र में अभावग्रस्त परिस्थितियों से जूझने वाले बच्चों अथवा किशोरों के मनोविज्ञान को समझने के लिए उन कठोर यथार्थवादी परिस्थितियों से भी परिचय प्राप्त करना होगा। इस तरह के किशोर का मनोविज्ञान किसी सुविधा-संपन्न परिवार और शहरी क्षेत्र में रहने वाले किशोर के मनोविज्ञान से कई मायनों में अलग होगा। बहुलसंस्कृतिवादी और बहुभाषिक भारतीय परिवेश में इतना अधिक वैविध्य है कि उनमें रहने वाले बच्चों को बेहतर शिक्षा देने के लिए उनके पूरे सामाजिक-सांस्कृतिक तंत्र को भी भली प्रकार से समझना होगा। यह तभी संभव है जब भारतीय शिक्षा की बुनियाद भारतीय दर्शन, समाज और मनोविज्ञान की सुदृढ़ और गहरी नींव पर रखी जाएगी।

सेवारत शिक्षकों के प्रशिक्षण के दौरान अनुभवों की साझेदारी से यह मुद्दा गंभीरता से उभरकर आता है कि हमने अपने बी.एड. अथवा शिक्षक-प्रशिक्षण में पॉवलॉव, स्किनर, पियाजे के अथवा अन्य विदेशी सिद्धांत पढ़े थे वे हमारी कक्षाओं के भीतर दम तोड़ते नज़र आते हैं। कई बार ऐसी घटनाएँ घटती हैं जिन्हें किन्हीं परिचित सिद्धांतों के अनुसार न तो व्याख्यायित करना संभव होता है और न ही उनका सिद्धांतीकरण किया जा सकता है, तो फिर केवल ऐसे ही सिद्धांतों का अध्ययन क्यों किया जाये जो एक आम भारतीय बच्चे की वास्तविक स्थिति, छवि प्रस्तुत करने में उसके मनोविज्ञान, उसके अंतर्द्वंद्वों को समझने में सफल न हो।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि बहुभाषिकता भारतीय कक्षाओं की नियति और वास्तविक स्थिति है। भारत का प्रत्येक बच्चा

बहुभाषिक है। यह बहुभाषिकता विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक विकास में बाधक नहीं बल्कि साधक है। यह भी सर्वविदित है कि भाषा की शिक्षा केवल भाषा की कक्षाओं तक सीमित नहीं है बल्कि गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान की कक्षाएँ भी एक प्रकार से भाषा की ही कक्षाएँ हैं। अतः यह भी प्रत्येक शिक्षक-प्रशिक्षु को समझना होगा कि जब वे गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान पढ़ाते हैं तो उसमें भाषा-शिक्षा की प्रक्रिया मौजूद रहती है। विद्यार्थियों की भाषा और उनका भाषा-विकास किसी भी अनुशासन के अध्ययन-अध्यापन में क्या भूमिका निभाते हैं, इसकी भी स्पष्ट अवधारणा होना ज़रूरी है। वे शिक्षक जो गणित, विज्ञान अथवा सामाजिक विज्ञान पढ़ाते हैं, अक्सर विद्यार्थियों की भाषा-शिक्षा संबंधी समस्याओं से किनारा कर लेते हैं। वे अक्सर यह कहते हुए मिलते हैं कि भाषा-समस्या भाषा शिक्षक की है, हमारी नहीं। यह संकीर्णवादी धारणा विद्यार्थियों के लिए घातक हो सकती है। उन्हें यह समझना होगा कि गणित, विज्ञान आदि विषय किसी भाषा के माध्यम से ही समझे-समझाए जाते हैं अंततः भाषा का सरोकार सभी विषयों के शिक्षकों का सरोकार है। इतना ही नहीं भाषा-शिक्षण के प्रति अंततः अनुशासनात्मक दृष्टिकोण होना चाहिए। इस मुद्दे को ध्यान में रखते हुए **भाषा-शिक्षा का पर्चा सभी शिक्षक-प्रशिक्षुओं के लिए अनिवार्य पर्चे के रूप में होना चाहिए** न कि केवल भाषा शिक्षक-प्रशिक्षुओं के लिए। इस पर्चे में भाषा के प्रकार्य, भाषा और सत्ता, भाषा और जेंडर, भाषा और अन्य विषयों का अध्ययन, बच्चे की भाषा, घर की भाषा, समाज की भाषा आदि की प्रकृति और प्रकार्य, विभिन्न संचार माध्यमों की भाषा की भूमिका, समझ की भाषा आदि बिंदुओं पर गहनता से चिंतन किया जा सकता है। अतः भाषा-विमर्श को अनिवार्य पर्चे के रूप में अध्यापक-शिक्षा की पाठ्यचर्या में स्थान दिया जा सकता है।

जब हम सर्वशिक्षा अर्थात् सबके लिए शिक्षा की बात करते हैं और इतना ही नहीं जब **'शिक्षा का अधिकार'** की बात करते हैं तो शिक्षकों की ज़िम्मेदारी और भी अधिक बढ़ जाती है। ऐसा नहीं है कि इससे पहले शिक्षा शिक्षकों के चिंतन का सरोकार नहीं थी लेकिन अब शिक्षा का संवैधानिक पक्ष अपेक्षाकृत काफ़ी सुदृढ़ हो गया है। **शिक्षा को अब इस नए संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में देखने समझने की जरूरत है। अतः अध्यापक-शिक्षा की पाठ्यचर्या में शिक्षा का अधिकार और उससे जुड़े तमाम निहितार्थों को, व शिक्षकों की भूमिका को, पुनः परिभाषित करना होगा।** शिक्षक-प्रशिक्षुओं को इस रूप में तैयार करना होगा कि वे अपनी सुचिंतित और पुनः परिभाषित भूमिकाओं का ईमानदारी से वहन करने की योग्यता विकसित कर सकें। इसी से जुड़ा एक महत्वपूर्ण बिंदु है–**समावेशन की नीति अथवा समावेशी शिक्षा।** समावेशी शिक्षा की इस नवीन अवधारणा को भी एक अनिवार्य पर्चे के रूप में अध्यापक-शिक्षा की पाठ्यचर्या में शामिल करना होगा। इसी संदर्भ में विशिष्ट आवश्यकता वाले बच्चों की शिक्षा को लाना होगा, न कि वह एक अलग पर्चे का हिस्सा हो। जब हम समावेशन की

बात करते हैं तो हम दरअसल प्रत्येक बच्चे को शिक्षा की सामान्य धारा में शामिल करने की बात करते हैं, न कि केवल विशेष आवश्यकता वाले बच्चों की। शिक्षक-प्रशिक्षुओं में चिंतन हेतु यह दिशा और समझ विकसित करनी होगी कि हर वर्ग के हर बच्चे को शिक्षा की मुख्य धारा में कैसे शामिल किया जाये? प्रत्येक बच्चे की विशिष्ट विशेषताओं और आवश्यक विशिष्ट आवश्यकताओं के प्रति शिक्षक-प्रशिक्षु, को संवेदनशील बनाना भी अध्यापक- शिक्षा का मुख्य दायित्व होगा।

अब सवाल यह उठता है कि शिक्षक-प्रशिक्षुओं को शिक्षा के बदलते परिदृश्य के प्रति जागरूक, संवेदनशील कैसे बनाया जाये? यह ज़ाहिर-सी बात है कि सैद्धांतिक की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया जाये। अध्यापक-शिक्षा की किसी भी पाठ्यचर्या में इतनी गुंजाइश तो होनी चाहिए कि शिक्षक-प्रशिक्षु –

- भारतीय समाज, विद्यालय व कक्षा के कठोर यथार्थ से परिचित हो सकें।
- भारतीय बच्चों के मनोविज्ञान, (मन और व्यवहार) तनाव, दबाव, दुश्चिंता और विशेषताओं को करीब से देख-समझ सकें।
- शिक्षा के अधिकार का भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करके अपने लिए निहितार्थ तय कर सकें।
- शिक्षा संबंधी किन्हीं भी सिद्धांतों की कक्षायी प्रक्रियाओं में ठोस रूप से जाँच-पड़ताल कर सकें और अपने लिए कारगर उपायों की पहचान कर सकें।
- विद्यार्थियों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक एवं भाषिक पृष्ठभूमि का सूक्ष्म-दृष्टि से निरीक्षण कर सकें।
- व्यक्तिगत-भिन्नता की अवधारणा के साथ-साथ समूह के मनोविज्ञान की भी स्पष्ट एवं गहन समझ बना सकें।
- बदलते परिदृश्यों में शिक्षा, शिक्षक, विद्यालय, समाज की बदलती भूमिका को समझ सकें।
- अपनी कक्षाओं के लिए स्वयं अपने सिद्धांतों को गढ़ सकें।
- प्रभावी शिक्षण की नवीन तकनीक से परिचित होते हुए उन्हें अपनी कक्षा की ज़रूरतों के अनुसार परिमार्जित, संशोधित कर सकें।
- सभी प्रकार की विद्यालयी स्थितियों में संपन्न अथवा विपन्न में समान उत्साह से प्रभावी शिक्षण का कार्य कर सकें।

उपर्युक्त बिंदुओं की प्राप्ति के लिए शिक्षक-प्रशिक्षुओं को प्रशिक्षण-केंद्रों से बाहर वास्तविक कक्षाओं में ले जाना होगा जहाँ व्यक्तिगत भिन्नता के अधिकाधिक उदाहरण और उन्हें विद्यालयी व्यवस्था, शिक्षा-तंत्र से परिचित होने का अवसर भी मिलेगा। राजस्थान के खंडाच ढाँणी जैसे गाँव में जहाँ आना-जाना सुगम नहीं है, जहाँ पानी की किल्लत है, जहाँ बच्चे इसलिए पढ़ने नहीं आते क्योंकि उन्हें अपने छोटे भाई-बहनों के साथ-साथ अपने छोटे पालतू पशुओं की भी देखभाल करनी होती है, जहाँ बारिश में कमरों में

पानी टपकता है, जहाँ न बिजली है, जहाँ न सर्दी, गर्मी, बरसात से बचने के सरल उपाय हैं, जहाँ सर्दियों में एक ही अलाव के सामने बच्चे और कुत्ते साथ बैठते हैं—वहाँ शिक्षा का वास्तविक अर्थ तय करना सरल न होगा। जब तक पूरे हिंदुस्तान के अलग-अलग हिस्सों की भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्थितियों को नज़दीक से देखने, समझने का अवसर नहीं मिलेगा तब तक शिक्षा की परिभाषा किताबों से या प्रवचनों से रटी जाएगी। अत: ज़रूरी है कि शिक्षक-प्रशिक्षुओं को शिक्षा-संबंधी किसी भी सैद्धांतिक चर्चा से पहले ही कक्षाओं व कक्षायी अभ्यासों का सूक्ष्म अवलोकन करने का अवसर प्रदान किया जाये ताकि जब प्रशिक्षण के दौरान सैद्धांतिक चर्चा हो तो वे समस्त बिंदुओं का साथ-साथ गहन विश्लेषण करते चलें और अव्यावहारिक हिस्सों पर पुनर्विचार करते चलें। दूर-दराज़ के ग्रामीण विद्यालयों, ग्रामीण शिक्षकों, ग्रामीण बच्चों के साथ बातचीत करने, उनके अनुभवों की साझेदारी को भी अध्यापक-शिक्षा की पाठ्यचर्या में स्थान दिया जा सकता है। उन्हें यह अहसास भी हो सके कि जहाँ शिक्षा की ऊपरी परतें, जो बेहद रंगीन नज़र आती हैं उनकी नीचे की भीतरी परतें कितनी बदरंग हैं। शिक्षा की अपनी चुनौतियाँ, वही भीतरी परतें हैं जो खुली आँखों से भी नज़र नहीं आतीं। जिन्हें जानने के लिए गहन अवलोकन, मनन की आवश्यकता है।

गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए बच्चों के अधिकार को ध्यान में रखते हुए ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता अनुभूत की जाती है जिनमें समाज और दुनिया के प्रति समीक्षात्मक समझ हो तथा जो मौजूदा शिक्षायी जड़ता का सामना कर सकें और उचित, व्यावहारिक विकल्पों की खोज कर सकें। यह भी सत्य है कि शिक्षा के संबंध में बुनियादी विचारों की जानकारी एवं दुनिया-भर में चल रहे शिक्षायी विमर्श की जानकारी शिक्षक को उसकी अकादमिक परिस्थितियों से जूझने में मदद करती है। उसे दुनिया के अलग-अलग हिस्सों मे चल रहे शिक्षायी नवाचारों की भी जानकारी हो जो उसे चुनौतियों का सामना करने अथवा 'विकल्प' तलाशने में मदद करेंगी। **अध्यापक-शिक्षा का एक महत्वपूर्ण पक्ष है - 'शिक्षा का साहित्य'।** जब हम साहित्य को समाज का दर्पण मानते हैं तो इस साहित्य में समाज में व्याप्त शिक्षा की झलक मिलेगी जो तत्कालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा को समझने में मददगार होगी। इसी प्रकार शिक्षा का भी साहित्य है जिन्हें कक्षा के वास्तविक अनुभवों को दर्ज़ करते हुए रचा गया है। शिक्षा का साहित्य शिक्षकों की इस रूप में सहायता करेगा कि वे संस्कृति और समाज के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा को समझ सकें। उदाहरण के लिए **गिजुभाई का 'दिवास्वप्न', जे. कृष्णमूर्ति का 'संवाद शिक्षकों व छात्रों से' (शिक्षा क्या है?), महात्मा गांधी का 'हिंद स्वराज', रवींद्रनाथ टैगोर की 'शिक्षा', एस.ए. नील का 'समरहिल'** का अनुभव आदि। विभिन्न विद्वानों के शैक्षिक लेखों, विचारों, अनुभवों को 'शिक्षा का साहित्य' पर्चे में स्थान दिया जा सकता है ताकि उनके जीवंत अनुभवों से यह समझा जा सके कि किस तरह समाज और शिक्षा

एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और शिक्षा के असली मायने क्या हैं? साथ ही वे अतीत की वास्तविक कक्षाओं के झरोखे से झाँककर देख सकें कि चुनौतियों का मुकाबला किस तरह किया जा सकता है और बच्चों का स्वभाव कैसा होता है?

उपर्युक्त चर्चा के उपरांत कहा जा सकता है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए ऐसे सजग, प्रतिबद्ध एवं मननशील शिक्षकों की आवश्कता है जो न केवल विद्यालयी गतिविधियों के विभिन्न पक्षों की आलोचनात्मक समीक्षा कर सकें बल्कि कुशलतापूर्वक इन गतिविधियों को कक्षा में क्रियान्वित भी कर सकें। शिक्षा की समस्त, प्रक्रियाओं के निर्धारण में अपनी हस्तक्षेपकारी भूमिका को समझ सकें। **अतः अध्यापक-शिक्षा का स्वरूप ऐसा हो जो शिक्षा को क्रांति के रूप में स्थापित कर सके।** अध्यापक-शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिससे शिक्षक मननशील बन सकें और अपने विद्यार्थियों को भी इस ओर अग्रसर कर सकें। 'क्या विचार किया जाये' से महत्वपूर्ण बिंदु हैं—'कैसे विचार किया जाये'। विचार-विमर्श की यह क्षमता शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। अध्यापक-शिक्षा की पाठ्यचर्या, विषय-वस्तु और शिक्षण-शास्त्र में इस प्रकार से संशोधन किया जाये कि शिक्षक हर प्रकार की परिस्थिति—संपन्न और विपन्न, शहरी और ग्रामीण—में विद्यार्थियों के लिए बेहतर शिक्षा का द्वार खोल सकें। उनमें अपने व्यवसाय के प्रति जवाबदेही की चेतना को भी जागृत करना होगा। इन सबके लिए आवश्यक है कि पहले स्वयं शिक्षक अपने ऊपर भरोसा कर सकें, अपनी क्षमताओं में निखार और पैनापन ला सकें। यह परिदृश्य सैद्धांतिक ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक कार्य-प्रणाली पर बल देता है। हम सिद्धांत से व्यवहार की ओर न बढ़ें बल्कि व्यवहार से स्वयं के सिद्धांत बनाएँ। कक्षायी-अभ्यासों में उनकी जाँच-पड़ताल करें और जो सिद्धांत कक्षा के कठोर यथार्थ की भूमि पर दम तोड़ देते हैं—उनका पुनर्सृजन करें, नए सिरे से नए सिद्धांतों की रचना करें।